वह उनसे खेल रहा था, उसे तुम पर दया आ गयी थी. तुम्हें होश में लाने के लिए उसने तुम्हारे सिर पर पानी छिड़का था.'

'क्या वे तुम्हें यहां हर रात मिलते हैं.' मैंने पूछा. मेरी आंखें दरवाज़े पर टिकी हुई थीं, जहां से वह दुकानदार गया था.

'हां, वह आज यहीं था, कल और उसके एक दिन पहले भी वह यहां आया था, पर उससे पहले एक महीने तक मैंने उसे नहीं देखा था.'

'शायद वह कल भी यहां आये.' मैंने एक ठंडी आह भरी.

'हां, शायद.'

'वह जितना चाहे, उतना पैसा देने के लिए मैं तैयार हूं.'

वानस ने सहानुभूतिपूर्वक जवाब दिया– 'एक बात मैं तुम्हें बताऊं कि वह इस तरह के किसी प्रलोभन में नहीं आता, पर यदि तुम उससे मिलोगे तो तुम्हारा इलाज ज़रूर करेगा.'

'मुफ्त में?'

'हां, बस उसे यह यकीन होना चाहिए कि तुम उससे प्रेम करते हो.'

दुकानदार अपने मकसद में नाकामयाब होकर लौट आया. मैंने अपनी बची-खुची ताकत जुटायी और बार से चल पड़ा. मेरे कदम डगमगा रहे थे. गली के छोकरे मुझे अजीब नज़रों से घूरने लगे. हारकर मैंने एक टैक्सी में शरण ली.

अगली शाम देर तक मैं वानस-अल-दमनदौरी के साथ बैठा रहा. पर जाबालवी नहीं आया. वानस ने बताया कि वह काहिरा छोड़ किसी दूसरे देश निकल जायेगा और कपास की फसल बिक जाने के बाद ही लौटेगा.

'मैं इंतज़ार करूंगा,' मैंने खुद से कहा– 'मुझे धीरज रखना सीखना होगा. सबसे पहले मुझे यकीन करना होगा कि जाबालवी का वजूद है और अपने प्रति उनके स्नेह पर भरोसा रखना होगा. इसी से मेरे भीतर यह उत्साह पैदा होगा कि वह मेरा इलाज करेगा.'

हालांकि यह लम्बा इंतज़ार कभी-कभार मुझे अवसाद से भर देता है. शायद यह अवसाद मेरे भीतर इतना घर कर जाये कि मैं पहले जेहन से निकाल फेंकने की कोशिश में जुट जाऊं. ऐसे न जाने कितने दुखी लोग होंगे, जो उसे नहीं जानते या उसे केवल एक मिथक समझते हैं. फिर मैं ही क्यों खुद को इस तरह यातना दे रहा हूं?

जब-जब मुझे दर्द के दौरे पड़ते, मैं दोबारा उनके बारे में सोचने लगता. खुद से पूछता कि उनसे मिलने का सौभाग्य मुझे कब मिलेगा? दरअसल वानस के बारे में भी खबर मिलनी बंद हो गयी थी. मैंने सुना वह विदेश चला गया है, पर मैं अपने लक्ष्य पर डटा रहा. मैंने इरादा कर लिया कि मुझे जाबालवी को खोजना है.

हां, मुझे हर हालत में जाबालवी को पाना ही है. ❑

अकेले नहीं आते बाढ़ और अकाल

● अनुपम मिश्र

सन् 1910 का किस्सा है. राजेंद्र बाबू तब कलकत्ता में वकालत पढ़ रहे थे. यहां एक दिन उन्हें उस दौर के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री परमेश्वर लाल ने बुलाया था. वे कुछ समय पहले ही गोखलेजी से मिले थे. बातचीत में गोखलेजी ने उनसे कहा था कि वे यहां के दो-चार होनहार छात्रों से मिलना चाहते हैं. परमेश्वरजी ने सहज ही राजेंद्र बाबू का नाम सुझा दिया था.

राजेंद्र बाबू गोखलेजी से मिलने गये, अपने एक मित्र श्रीकृष्ण प्रसाद के साथ. सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना अभी कुछ ही दिन पहले हुई थी. गोखलेजी उस काम के लिए हर जगह कुछ अच्छे युवकों की तलाश में थे.

कोई डेढ़ घंटे चली इस पहली ही मुलाकात में राजेंद्र बाबू से श्री गोखले ने सारी बातों के बाद आखिर में कहा था– 'हो सकता है तुम्हारी वकालत खूब चल निकले. बहुत रुपए तुम पैदा कर सको. बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ. बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी इत्यादि दिखावट का सामान सब जुट जाए. और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो तो इसलिए तुम पर वह दावा और भी अधिक है.'

गोखलेजी थोड़ा रुक गये थे. कुछ क्षणों के उस सन्नाटे ने भी राजेंद्र बाबू के मन में न जाने कितनी उथल-पुथल पैदा की होगी. वे फिर बोलने लगे– 'मेरे सामने भी यही सवाल आया था, ऐसी ही उमर में. मैं भी एक साधारण गरीब घर का बेटा था. घर के लोगों को मुझसे बहुत बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं. उन्हें लगता था कि मैं पढ़कर तैयार हो जाऊंगा, रुपए कमाऊंगा और सबको सुखी बना सकूंगा. पर मैंने उन सबकी आशाओं पर पानी फेर कर देशसेवा का व्रत ले लिया. मेरे भाई इतने दुखी हुए कि कुछ दिनों तक तो वे मुझसे बोले तक नहीं. हो सकता है यही सब तुम्हारे साथ भी हो. पर विश्वास रखना कि सब लोग अंत में तुम्हारी पूजा करने लगेंगे.'

श्री गोखले के मुख से मानो एक आकाशवाणी-सी हुई थी.

बाद का किस्सा लम्बा है. लम्बी है राजेंद्र बाबू के मन में कई दिनों तक चले संघर्ष की कहानी और घर में मचे कोहराम की, रोने धोने की, बेटे के साधु बन जाने

की आशंका की.

इस किस्से से ऐसा न मान लें हम लोग कि वे अगले ही दिन अपना सब कुछ छोड़ देशसेवा में उतर पड़े थे. श्री गोखले खुद बड़े उदार थे. उन्होंने उस दिन कहा था कि 'ठीक इसी समय उत्तर देना ज़रूरी नहीं है. सवाल गहरा है. फिर एक बार और मिलेंगे, तब अपनी राय बताना.'

अगले दस बारह दिनों का वर्णन नहीं किया जा सकता. भाई साथ ही रहते थे. इनके व्यवहार में आ रहे बदलाव वे देख ही रहे थे. राजेंद्र बाबू ने कोर्ट जाना बंद कर दिया था. न ठीक से खाते-पीते, न किसी से मिलते-जुलते थे. फिर एक दिन हिम्मत जुटायी. एक पत्र, काफी बड़ा पत्र, भाई को लिखा और घर छोड़ने की आज्ञा मांगी. पत्र तो लिख दिया पर सीधे उन्हें देते नहीं बना. सो एक शाम जब भाई टहलने के लिए गये थे, तब उसे उनके बिस्तरे पर रख, खुद भी बाहर टहलने चले गये.

भाई ने लौटकर पत्र देखा. और अब खुद राजेंद्र बाबू को तलाशने लगे. जब वे बाहर कहीं मिल गये तो भाई बुरी तरह से लिपटकर रोने लगे. राजेंद्र बाबू भी अपने को रोक नहीं पाये. दोनों फूट-फूट कर रोते रहे. ज़्यादा बातचीत की हिम्मत नहीं थी, फिर भी तय हुआ कि कलकत्ता से गांव जाना चाहिए. मां, चाची और बहन को सब बताना होगा.

राजेंद्र बाबू को अब लग गया था कि देशप्रेम और घरप्रेम में घर का वज़न ज़्यादा भारी पड़ रहा है. वे इतनी आसानी से इस प्रेम बंधन को काट नहीं पाएंगे.

गांव पहुंचने का किस्सा तो और भी विचित्र है. चारों तरफ रोना-धोना. बची-खुची हिम्मत भी टूट गयी थी. वे जैसे थे वैसे ही बन गये. फिर से लगा कि पुरानी ज़िंदगी पटरी पर वापस आने लगी है.

पर उस दिन तो आकाशवाणी हुई थी. वह झूठी कैसे पड़ती? यही वकालत उन्हें आने वाले दिनों में, पांच-छह बरस बाद चंपारण ले गयी. वहां उन पर, उनके जीवन पर नील का रंग चढ़ा. नील का रंग याने गांधीजी के चम्पारण आंदोलन का रंग. यह रंग इतना चोखा चढ़ा कि वह फिर कभी उतरा ही नहीं.

गांधी रंग में रंगे राजेंद्र बाबू फिर बिना किसी पद की इच्छा के देश भर घूमते रहे और सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में जितनी तरह की समस्याएं आती हैं, उनके हल के लिए अपने पूरे मन के साथ तन अर्पित करते रहे और जहां ज़रूरत दिखी वहां धन भी जुटाते-बांटते रहे.

उन समस्याओं की, उन विषयों की गिनती गिनाना कठिन काम है. आज तो हम दो विषयों पर, दो समस्याओं पर ही कुछ बातें करेंगे. ये हैं बाढ़ और अकाल. पानी के स्वभाव के ये दो छोर हैं. एक में, बाढ़ में चारों तरफ पानी ही पानी है और दूसरे में हर कहीं पानी का अभाव ही अभाव है. राजेंद्र बाबू ने इनमें से जो भी समस्या सामने आयी, बाकी हाथ के कामों को गौण मानकर सबसे पहले इन्हीं पर ध्यान दिया.

लेकिन इसके विस्तार में जाने से पहले हम ज़रा आज का संदर्भ भी दुहरा लें.

पांच राज्यों में चुनाव हो रहे हैं. आये दिन हम देखते हैं किसी को किसी राजनैतिक दल ने अपना उम्मीदवार नहीं बनाया तो उसने गुस्से में आकर दल छोड़ दिया. इससे एक धारणा यह बन गयी है कि मुझे कोई पद नहीं मिलेगा तो देश की सेवा कैसे हो पाएगी मुझसे!

इस विचित्र धारणा को पालने-पोसने और आगे बढ़ाने में सारे दल– उनके सदस्य धर्म, लिंग, जाति, अगड़े-पिछड़े सभी में गजब की सहमति दिखती है. ऐसे में हमें राजेंद्र बाबू के कुछ विचार आज एक बार फिर दुहरा लेने चाहिए.

यह प्रसंग आज से कोई 93 बरस पहले का है. संयोग से तब भी महीना नवंबर का ही था. अवसर था कौंसिल और असेम्बली के चुनावों का. छोटी-छोटी बातों पर तब के बड़े-बड़े नामों तक में मतभेद ही नहीं, मनभेद के भी कड़वे किस्से सामने आने लगे थे.

पानी में डूबकर तो हम मर ही रहे हैं और तुम लाइन नहीं काटने देते. अब तक हमने बर्दाश्त किया. अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते. मरना दोनों हालत में है. डूबकर मरें या गोली खाकर मरें.

राजेंद्र बाबू ने उस समय अपना मन मज़बूत कर 'देश' नामक अखबार में एक लेख लिखा था. उसे उन्हीं के साथियों ने पसंद नहीं किया था. उन्हीं के शब्दों को यहां दुहरा लेना चाहिए– 'जब देश के स्थान पर हम किसी जाति-विशेष अथवा धर्म विशेष अथवा दल विशेष को बिठाना चाहते हैं, तब इस तरह की लड़ाई हुए बिना नहीं रह सकती.'

'देश सेवकों के लिए एक ही रास्ता है कि कम से कम तब तक, जब तक देश पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं हो जाता, वे किसी स्थान, पद, अथवा प्रतिष्ठान के लिए लालायित न हों और केवल सेवा को ही ध्येय बनाकर काम करते जाएं.'

इस लेख में वे आगे लिखते हैं– 'मैं इसको प्रवंचना मात्र मानता हूं, जब कोई यह सोचता और कहता है कि सेवा करने के लिए उसे किसी पद विशेष की आवश्यकता है तथा उस पद के बिना वह सेवा ही नहीं कर सकता.'

इस ऐतिहासिक लेख के अंत में वे कहते हैं– 'सेवक के लिए हमेशा जगह खाली पड़ी रहती है. उम्मीदवारों की भीड़ सेवा के लिए नहीं हुआ करती. भीड़ तो सेवा के फल के बंटवारे के लिए लगा करती है. जिसका ध्येय

केवल सेवा है, सेवा का फल नहीं है, उसको इस धक्का-मुक्की में जाने की और इस होड़ में पड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है.'

ज़मीन पर यह सब हो रहा था और उधर आसमान से भी एक भयानक विपत्ति उतर आयी थी. बिहार के छपरा जिले में एक दिन घनघोर बरसात हुई. पूरा जिला भयानक बाढ़ में डूब गया. वहां के सरकारी कर्मचारियों ने, लोगों के प्रति इस मुसीबत में बहुत ही उदासीनता और उपेक्षा का भाव दिखाया. कुछ अधिकारी-कर्मचारी नावों में चढ़कर 'झिरझिरी' खेल रहे थे.

झिरझिरी एक तरह से लुकाछिपी का खेल होता है. डूबते लोगों को, यहां तक कि स्त्रियों और बच्चों को भी बचाने में इन अधिकारियों ने कोई मदद नहीं की. लोग डूबते रहे, प्रशासन लुकाछिपी ही खेलता रहा. सरकार के ऐसे घृणित व्यवहार को लेकर अगले दिन बाढ़ के पानी के बीच ही छपरा में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई और उसमें सरकार की खुले आम निंदा की गयी.

देहातों का हाल तो और भी बुरा था. उन दिनों छपरा से मशरक तक जाने वाली रेल लाइन के कारण बाढ़ का सारा पानी आगे बहने के बदले एक बड़े भाग में फैल गया था और पीछे से आने वाली विशाल धारा उसका स्तर लगातार उठाते जा रही थी. लोगों को इससे बचने का एक ही रास्ता दिखा था– रेलवे लाइन काट देना और चढ़ते पानी को आगे के भूभाग में फैलने देना ताकि यहां कुछ सांस ली जा सके. पर कलेक्टर ने उनकी एक न सुनी. और तो और ऐसी ही तबाही मचा रही अन्य रेलवे लाइनों पर सशस्त्र पहरा बिठा दिया गया था. सीवान के पास एक ऐसी ही जगह बहुत पानी जमा हो गया था. गांव वालों ने तब खुद ही उस रेल लाइन को काटना तय कर लिया. पर सामने सशस्त्र पुलिस देख उनकी हिम्मत न पड़ी.

राजेंद्र बाबू इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं– 'कष्ट सहते गये लोग. पर जब वह बर्दाश्त से बाहर हो गया तो दो-चार आदमी कंधे पर कुदाल रखकर पानी में तैरते हुए रेल लाइन की तरफ बढ़े. पुलिस ने उन्हें देखा और उनको धमकाया. उन्होंने जवाब दिया कि पानी में डूबकर तो हम मर ही रहे हैं और तुम लाइन नहीं काटने देते. अब तक हमने बर्दाश्त किया. अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते. मरना दोनों हालत में है. डूबकर मरें या गोली खाकर मरें. हमने निश्चय कर लिया है कि गोली खाकर मरना बेहतर है. हम लाइन काटेंगे, तुम गोली मारो.'

बहते पानी में ये बहादुर लोग तैरते हुए मज़बूत बांध की तरह उठी हुई उस रेल लाइन पर अपने दृढ़-निश्चय से कुदाल चलाते गये. पुलिस की हिम्मत नहीं हुई गोली चलाने की. लाइन अभी थोड़ी-सी ही कट पायी थी कि पीछे भर रहे पानी की ताकत ने लोगों के संकल्प में साथ दिया और लाइन भड़ाक से टूटी और विशाल बाढ़ का पानी उसे किसी तिनके की तरह अपने साथ न जाने कहां बहा ले गया. पीछे के अनेक गांव पूरी तरह से डूबने से बच गये थे. बाद में पुलिस वालों ने भी रिपोर्ट में लिखा कि बाढ़ के दबाव से ही रेल लाइन कट गयी थी.

इन सब दुखद प्रसंगों से राजेंद्र बाबू ने देखा था कि बाढ़ और साथ ही अकाल अकेले नहीं आते. इनसे पहले समाज में और भी बहुत कुछ ऐसा होता है जो होना नहीं चाहिए.

बुरे कामों की बाढ़ आ जाती है. बिना पानी का स्वभाव समझे विकास के नाम पर कई तरह के काम होते रहते हैं. यह किसी एक कालखंड की बात नहीं है. दुर्भाग्य से सब समय में ऐसी गलतियां दुहरायी जाती रहती हैं. तो एक तरफ प्रकृति, पर्यावरण के खिलाफ़ ले जाने वाले कामों की बाढ़ आ जाती है तो दूसरी तरफ अच्छे कामों का अकाल पड़ने लगता है. अच्छे विचारों का अकाल पड़ने लगता है.

खुद राजेंद्र बाबू अपनी आत्मकथा में इस दुखद प्रसंग में लिखते हैं कि 'रेल-लाइनों के कारण बाढ़ की भयंकरता बढ़ जाती है. मेरा यह दृढ़ विचार है कि रेलवे लाइन और डिस्ट्रिक्ट कोर्ट की तथा दूसरी ऊंची सड़कें बाढ़ के कारणों में प्रमुख हैं. यदि इनमें जगह-जगह काफी संख्या में चौड़े पुल बने रहते तो हालत ऐसी न होती. पर यहां तो रेल की कम्पनियों के मुनाफे पर ही अधिक ध्यान रखा जाता है. उनको पुल बनवाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता, लाइन काटना तो दूर की बात है. बी.एन.डब्लू. रेलवे ने इस मामले में बहुत कंजूसपन दिखलाया है. यद्यपि अब उसमें कई जगह पुल बने हैं, तथापि अब भी बहुत से ऐसे स्थान हैं, जहां पुल की ज़रूरत है. उसने जो पुल बनवाये हैं, वे जनता के कष्ट दूर करने के ख्याल से नहीं, अपने मुनाफे के ख्याल से; क्योंकि जब तक केवल जनता के कष्ट की बात रही, एक न सुनी गयी; पर जब प्रकृति ने लाइन को इस तरह तोड़ा कि महीनों रेल चलना बंद हो गया तो उसने मजबूरन कई पुल बनवा दिये.'

सन् 1937 तक आते-आते तो उस बड़े भू-भाग की हालत ऐसी हो गयी थी कि बिहार के राज्यपाल ने उस वर्ष बाढ़ की समस्या को लेकर एक बड़ा सम्मेलन पटना में बुलाया था. इसमें राजेंद्र बाबू को भी भाग लेने का निमंत्रण भेजा गया था.

राजेंद्र बाबू अचानक अस्वस्थ हो गये थे. वे उस सम्मेलन में भाग नहीं ले पाये. लेकिन उन्होंने इस विषय पर एक बड़ी टिप्पणी लिखकर भेजी थी.

वर्षा तो हर साल होती ही है. पूरे देश

में. कहीं कम, कहीं ज़्यादा, कहीं बहुत ज़्यादा भी. पर इन विभिन्न जगहों में रहने वाले समाज ने अपने वर्षों के अनुभव से इस कम-ज़्यादा वर्षा के साथ अपना जीवन कैसे ढालना है– यह ठीक से सीख लिया था.

आज हम देखते हैं कि जलनीतियां बनायी जाने लगी हैं. पहले ऐसा नहीं होता था. समाज अपना एक जलदर्शन बनाता था और उसे कागज पर न छापकर लोगों के मन में उकेर देता था. समाज के सदस्य उसे अपने जीवन की रीत बना लेते थे. फिर यह रीत आसानी से टूटती नहीं थी. जलनीतियां आती-जाती सरकारों के साथ बनती-बिगड़ती रहती हैं. पर जलदर्शन बदलता नहीं. इसी रीत से उस क्षेत्र विशेष की फसलें किसान समाज तय कर लेता था. सिंचाई के लिए अपने साधन जुटा लेता था.

अभी हमने जैसा बिहार के संदर्भ में देखा कि अंग्रेज़ों ने बिना उस इलाके को समझे रेल की पटरियां खूब ऊंची उठाकर बिछा दीं और गंगा और अन्य नदियों के विशाल मैदान को जगह-जगह रोक लिया. उस बड़े भू-भाग में पानी की बेरोकटोक आवक-जावक के लिए उन्होंने समुचित प्रबंध भी नहीं सोचा, उसे करने की बात तो कौन कहे.

जब अंग्रेज़ हमारे यहां आये थे तब हमारे यहां एक भी सिविल इंजीनियर नहीं था पर सचमुच कश्मीर से कन्याकुमारी तक, पश्चिम से पूरब तक कोई 25 लाख छोटे-बड़े तालाब थे. इनसे भी ज़्यादा संख्या में ज़मीन का स्वभाव देखकर अनगिनत कुंए बनाये गये थे. वर्षा का पानी तालाबों में कैसे आयेगा, किस तरह के क्षेत्र से, यहां-वहां से बहता आयेगा– उसका आगौर अनुभवी आंखों ने नाप लिया जाता था. फिर यह पानी साल भर कैसे पीने का पानी जुटाएगा और किस तरह की फसलों को जीवन देगा– इस सबकी बारीक योजना कहीं सैकड़ों मील दूर बैठे लोग नहीं बनाते थे– वहीं बसे लोग उस क्षेत्र में अपना बसना सार्थक करते थे. यह परम्परा आज भी पूरी तरह से टूटी नहीं है, हां उसकी प्रतिष्ठा ज़रूर गिर गयी है, नये पढ़े-लिखे समाज के मन में.

पर हमारे इस पढ़े-लिखे समाज को आज यह जानकर अचरज होगा कि हमारे देश की तकनीकी शिक्षा, सिविल इंजीनियरिंग की सारी आधुनिक शिक्षा की नींव में ये अनपढ़ माना गया, अनपढ़ बता दिया गया समाज ही प्रमुख था.

देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज खुला था हरिद्वार के पास रुड़की नामक एक छोटे-से गांव में. और सन् था 1847. तब ईस्ट इंडिया कम्पनी का राज था. कम्पनी का घोषित लक्ष्य देश में व्यापार था. कम्पनी तो लूटने के लिए ही बनी थी. ऐसे में ईस्ट इंडिया कम्पनी देश में उच्च शिक्षा के झंडे भला क्यों गाड़ती.

उस दौर में आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश का यह भाग एक भयानक अकाल से गुजर रहा था. अकाल का एक कारण था वर्षा का कम होना. पर अच्छे कामों और अच्छे विचारों का अकाल पहले ही आ चुका था और इसके पीछे एक बड़ा कारण था– ईस्ट इंडिया कम्पनी की अनीतियां.

यह एशिया का पहला कॉलेज था, इस विषय को पढ़ाने वाला. तब इंग्लैंड में भी इस तरह का कोई कॉलेज नहीं था. रुड़की के इस कॉलेज में इंग्लैंड से भी छात्रों का दल पढ़ने के लिए भेजा गया था!

सौभाग्य से उस क्षेत्र में, एक बड़े ही सहृदय अंग्रेज़ अधिकारी काम कर रहे थे. वे वहां के उपराज्यपाल थे. नाम था उनका श्री जेम्स थॉमसन. लोगों को अकाल में मरते देख उनसे रहा नहीं गया. उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशकों को एक पत्र लिख इस क्षेत्र में एक बड़ी नहर को बनाने का प्रस्ताव रखा था. ऊपर से उस पत्र का कोई जवाब तक नहीं आया.

तब जेम्स थॉमसन ने तीसरे पत्र में अपनी योजना में पानी और अकाल, लोगों के कष्टों के बदले व्यापार की, मुनाफे की चमक डाली. उन्होंने हिसाब लिखा कि इसमें इतने रुपए लगाने से इतने ज़्यादा रुपए सिंचाई के कर की तरह मिल जाएंगे. ईस्ट इंडिया कम्पनी की आंखों में चमक आ गयी. मुनाफा मिलेगा तो ठीक. पर बनायेगा कौन? कोई इंजीनियर तो है नहीं कम्पनी के पास. थॉमसन ने कम्पनी को आश्वस्त किया था कि यहां गांवों के लोग इसे बना लेंगे.

कोई ऐरी-गैरी, छोटी-मोटी योजना नहीं थी यह. हरिद्वार के पास गंगा से एक नहर निकाल कर उसे कोई 200 किलोमीटर तक के इलाके में फैलाना था.

वह योजना खूब अच्छे ढंग से पूरी हुई. तब थॉमसन ने कम्पनी से इसकी सफलता को देखते हुए इस क्षेत्र में इसी नहर के किनारे रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज खोलने का भी प्रस्ताव रखा. इसे भी मान लिया गया क्योंकि थॉमसन ने इस प्रस्ताव में भी बड़ी कुशलता से कम्पनी को याद दिलाया था कि इस कॉलेज से निकले छात्र बाद में आपके साम्राज्य का विस्तार करने में मददगार होंगे.

यह था सन् 1847 में बना देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज. देश का ही नहीं, एशिया का भी यह पहला कॉलेज था, इस विषय को पढ़ाने वाला. और आगे बढ़ें तो यह भी जानने लायक तथ्य है कि तब इंग्लैंड में भी इस तरह का कोई कॉलेज नहीं था. रुड़की के इस कॉलेज में कुछ साल बाद इंग्लैंड से भी छात्रों का एक दल यहां पढ़ने के लिए भेजा गया था!

तो इस कॉलेज की नींव में हमारा

अनपढ़ बता दिया गया समाज मज़बूती से सिर उठाये खड़ा है.

आज कॉलेज का दर्जा तो उठा है पर दुर्भाग्य से कॉलेज जिन लोगों के कारण बना, जिनके कारण वह विशाल सिंचाई योजना ज़मीन पर उतरी, जिन लोगों ने अंग्रेज़ों के आने से पहले देश में, देश के मैदानी भागों में, पहाड़ों में, रेगिस्तान में, देश के तटवर्ती क्षेत्रों में जल दर्शन का सुंदर संयोजन किया था, वे लोग आज कहीं पीछे फेंक दिये गये हैं.

आधुनिक बांधों से भी अकाल दूर हो गये हों– आज भी ऐसा पक्के तौर पर नहीं कह सकते. पंजाब, हरियाणा में देश के अन्य भागों में, महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा था. इसलिए बड़े बांधों से बंध जाना ठीक नहीं है. उन बांधों में भी पानी तो तभी भरेगा जब ठीक वर्षा होगी.

पर प्रकृति ठीक नहीं, ठीक-ठाक वर्षा करती है. वह मां है हमारी, लेकिन मदर डेयरी की मशीन नहीं कि जितने टोकन डालो, ठीक उतना ही पानी गिरा देगी. एक तरफ हम बड़े बांधों से बंध से गये. और दूसरी तरफ नयी तकनीक ने भूजल को बाहर उलीच लेने के नये साधन खोज निकाले. शहरों, गांवों में छलनी की तरह छेद कर डाले हमने और सचमुच मिट्टी की विशाल गुल्लक में पड़ी इस विशाल जलराशि को ऊपर खींच निकाला. उसमें डाला कुछ नहीं. इस तरह यह धरती की गुल्लक खाली हो चली है. इस दौर में हमारी राजनीति ज़्यादा गिरी है कि भूजल– यह तय कर पाना कठिन है. इन दोनों का स्तर ऊपर उठाने के लिए हमें खुद ऊपर उठना होगा.

पिछले कुछ समय से एक नया शब्द हमारे बीच आया है– जन-भागीदारी. पर जब यह नकली शब्द नहीं था तब हमारे समाज में पानी के मामले में गजब की भागीदारी थी. उस जन भागीदारी में सचमुच तीन भूमिकाएं होती थीं. लोग खुद अपने गांव में, शहर में पानी की योजना बनाते थे. यह हुई पहली भूमिका. फिर उस योजना को अमल में उतारते थे, तालाब, नहर, कुंए, आदि बनाते थे. यह थी दूसरी भूमिका. और तीसरी भूमिका में इन बन चुकी योजनाओं के रखरखाव की ज़िम्मेदारी भी स्वयं ही उठाते थे. वह भी कोई दो-चार बरस के लिए नहीं, बल्कि दो-चार पीढ़ी तक उसका रखरखाव करते थे. ऐसे में कहीं-कहीं समाज राज की भागीदारी भी कबूल कर लेता था. एक तरह से देखा जाए तो राज और समाज परस्पर तालमेल बिठाकर इन कामों को बड़ी सहजता से सम्पन्न कर लेता था. देश में इस कोने से उन कोने तक ऐसी अनेक जातियां, अनेक लोग थे, जो गांवों और शहरों के लिए पानी का काम करते थे. इसमें अकाल और बाढ़ की मार को कम करने का काम भी शामिल था. और यह सब वे सचमुच अपने तन, मन और धन से करते थे.

जो काम उनके मन में उतर गया था, उसे वे अपने तन पर भी संजोकर रखते थे. देश के सभी भागों में शरीर पर गुदना गोदवाने की एक बड़ी परम्परा रही है. इसमें शुभ चिह्न आदि तो चलन में थे ही, पर देश के कुछ भागों में एक विशेष चिह्न भी पाया जाता था. इसका नाम था– सीता बावड़ी. सीधी-सादी आठ-दस रेखाओं से एक भव्य चित्र कलाई पर किसी भी मेले, ठेले में देखते ही देखते गोद दिया जाता था. इस तरह पानी का काम मन से तन पर और तन से, श्रम से उतरता जाता था ज़मीन पर.

लेकिन आज ज़मीन की कीमतें आसमान छूने लगी हैं. शहरों में भी और अनेक गांवों में भी तालाब एक के बाद एक पुरते जा रहे हैं, कचरे से पटते जा रहे हैं. जल संकट सामने है पर हम उसे पीठ दे रहे हैं. अपने तालाबों को, अपने जल स्रोतों को नष्ट कर देने के बाद ऐसे प्यासे शहरों के लिए दूर से, बहुत दूर से किसी और का हक छीनकर बड़ी खर्चीली योजनाओं को बनाकर पानी लाया जा रहा है.

पर हमें एक बात भूलनी नहीं चाहिए. इंद्र देवता से इन शहरों ने ऐसी अपील तो की नहीं है कि हमारा पीने का पानी तो अब सौ, दो सौ किलोमीटर दूर से आ रहा है. आप हम पर पानी न बरसाएं! पहले ये तालाब ही वर्षा के दिनों में शहरों पर गिरने वाले पानी को अपने में संजोकर, समेटकर इन शहरों को बाढ़ से बचा लेते थे.

हमारे देश की समुद्र तटीय रेखा बहुत ही बड़ी है. पश्चिम में गुजरात के कच्छ से लेकर नीचे कन्याकुमारी घूमते हुए यह रेखा बंगाल में सुंदरबन तक एक बड़ा भाग घूम लेती है. पश्चिमी तट पर बहुत कम लेकिन पूर्वी तट पर अब समुद्री तूफानों की संख्या और उनकी मारक क्षमता भी बढ़ती जा रही है.

हमारे पूर्वी तटों पर समुद्री तूफान आते ही हैं पर अब नुकसान करने की उनकी क्षमता बढ़ती ही जा रही है. इसके पीछे एक बड़ा कारण है हमारे कुल तटीय प्रदेशों में उन विशेष वनों का लगातार कटते जाना, जिनके कारण ऐसे तूफान तट पर टकराते समय विध्वंस की अपनी ताकत काफी कुछ खो देते थे.

समुद्र और धरती के मिलन बिंदु पर, हज़ारों वर्षों से एक उत्सव की तरह खड़े ये वन बहुत ही विशिष्ट स्वभाव लिये होते हैं. दिन में दो बार ये खारे पानी में डूबते हैं तो दो बार पीछे से आ रही नदी के मीठे पानी में. मैदान, पहाड़ों में लगे पेड़ों से, वनों से इनकी तुलना करना ठीक नहीं. वनस्पति का ऐसा दर्शन अन्य किसी स्थान पर सम्भव नहीं. यहां इन पेड़ों की, वनों की जड़ें भी ऊपर रहती हैं. अंधेरे में मिट्टी के भीतर नहीं, प्रकाश में मिट्टी के ऊपर.

जड़ें, तना और फिर शाखाएं– तीनों का दर्शन एक साथ करा देने वाला यह वृक्ष, उसका पूरा वन इतना सुंदर होता है कि इस प्रजाति का एक नाम हमारे देश में सुंदर, सुंदरी ही रख दिया गया था. उसी से बना है सुंदरबन.

लेकिन आज दुर्भाग्य से हमारा पढ़ा-लिखा संसार, हमारे वैज्ञानिक कोई 13-14 प्रदेशों में फैले इस वन के, इस प्रजाति के अपने नाम एकदम भूल गये हैं. जब भी इन वनों की चर्चा होती है, इन्हें इनके अंग्रेज़ी नाम मैंग्रोव– से ही जाना जाता है.

पर्यावरण को ठीक से जानने वाले बताते हैं कि आंध्र और उड़िया में खासकर पारद्वीप वाले भाग में चमरंग वनों को विकास के नाम पर खूब ही उजाड़ा है. इसीलिए पारद्वीप ऐसे ही एक चक्रवात में बुरी तरह से नष्ट हुआ था. फिर यह भी कहा गया था कि उसके लिए एक मज़बूत दीवार बना दी जायेगी. कुछ ठंडे देशों का अपवाद छोड़ दें तो पूरी दुनिया में धरती और समुद्र के मिलने की जगह पर प्रकृति ने सुरक्षा के ख्याल से ही यह हरी सुंदर दीवार, लम्बे-चौड़े सुंदरवन खड़े किये थे. आज हम अपनी लालच में इन्हें काटकर इनके बदले पांच गज चौड़ी सीमेंट कंक्रीट की दीवार खड़ी कर सुरक्षित रह जाएंगे– ऐसा सोचना कितनी बड़ी मूर्खता होगा– यह कड़वा सबक हमें समय न सिखाए तो ही ठीक होगा.

दीवारें खड़ी करने से समुद्र पीछे हट जायेगा, तटबंद बना देने से बाढ़ रुक जाएगी, बाहर से अनाज मंगवाकर बांट देने से अकाल दूर हो जाएगा– बुरे विचारों की ऐसी बाढ़ से, अच्छे विचारों के ऐसे ही अकाल से हमारा यह जल संकट बढ़ा है.

आज हम सब जिस विभूति के पुण्य स्मरण में यहां एकत्र हुए हैं, उनने अपने समय में या कहें समय से पहले ही समाज का ध्यान ऐसी अनेक बातों की तरफ खींचा था.

श्री गोखले से भेंट होने के बाद राजेंद्र बाबू कोई बावन बरस तक सार्वजनिक जीवन में रहे. उनका बचपन जिस गांव में बीता था, उस गांव में नदी नहीं थी. वे तैरना नहीं सीख पाये थे. लेकिन इस बावन बरस के एक लम्बे दौर में उन्होंने अपने समाज को, देश को अनेक बार डूबने से बचाया था. अंतिम बारह बरस वे देश के सर्वोच्च पद पर रहे. जब वह निर्णायक भूमिका पूरी हुई तो सन् 1962 के मई महीने में वे एक दिन रेल में बैठे और दिल्ली से पटना के लिए रवाना हो गये थे. उसी सदाकत आश्रम के एक छोटे से घर में रहने के लिए, जहां से उन्होंने सार्वजनिक जीवन की अपनी लम्बी यात्रा प्रारम्भ की थी.

उनकी पुण्य स्मृति में हम सबके प्रणाम.

(डॉ. राजेंद्रप्रसाद स्मारक व्याख्यानमाला, 2013, में दिया गया भाषण, सम्पादित)

दृष्टि

सौ साल एक संकल्प के

● न्यायमूर्ति चंद्रशेखर धर्माधिकारी

लोकमान्य तिलक ने 30 दिसम्बर 1916 को 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूंगा' घोषणा की थी. उसके सौ साल पूरे हो रहे हैं. यह सिर्फ 'घोषणा' या 'नारा' नहीं था, वह प्रतिज्ञा थी. इसीलिए वह स्फूर्तिदायक मंत्र बना और सारा देश उससे पुलकित हो उठा. इस प्रतिज्ञा का उल्लेख कर गांधीजी ने लिखा है– 'महाराष्ट्र या महाराष्ट्रीय लोगों के बारे में मुझे जो आशा है, वह मैं शायद कभी भी नहीं भूल सकूंगा. जिस महाराष्ट्र ने भारतभूमि को त्याग और ज्ञान के पाठ निरंतर दिये, वह महाराष्ट्र गरीबों का' 'चरखा और खादी' का कभी भी अनादर नहीं करेगा.' 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह मंत्र सिखाकर लोकमान्य तिलक ने भारतवर्ष को श्लोकार्थ दिया, उसीका उत्तरार्ध मैंने, 'स्वराज्य प्राप्ति का साधन चरखा और खादी है' कहकर प्रस्तुत किया है. खादी गांधीजी के लिए सिर्फ वस्त्र नहीं था. वह सम्पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण साधन था. 'काते सो पहने और पहने सो काते' इस मंत्र में वह शक्ति है, यह उनकी भावना थी. लोकमान्य का जब देहांत हुआ, तो उनके उत्तराधिकारी गांधीजी ने लिखा था– 'लोकमान्य नहीं रहे, लोकमान्य चिरायु हों'. मतलब यह था कि उनकी स्वराज्य और स्वदेशी की प्रवृत्ति और विचारप्रणाली उनके देहांत के